।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ सप्तमोऽध्यायः

गत अध्यायों में गीता के मुख्य-मुख्य प्रायः सभी प्रश्न पूर्ण हो गये हैं। निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, कर्म और यज्ञ का स्वरूप और उसकी विधि, योग का वास्तविक स्वरूप और उसका परिणाम तथा अवतार, वर्णसंकर, सनातन, आत्मस्थित महापुरुष के लिए भी लोकहितार्थ कर्म करने पर बल, युद्ध इत्यादि पर विशद चर्चा की गई। अगले अध्यायों में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इन्हीं से सन्दर्भित अनेक पूरक प्रश्नों को लिया है, जिनका समाधान तथा अनुष्ठान आराधना में सहायक सिद्ध होगा।

छठें अध्याय के अन्तिम श्लोक में योगेश्वर ने यह कहकर प्रश्न का स्वयं बीजारोपण कर दिया कि जो योगी '**मद्गतेनान्तरात्मना**'- मुझमें अच्छी प्रकार स्थित अन्तःकरणवाला है, उसे मैं अतिशय श्रेष्ठ योगी मानता हूँ। परमात्मा में अच्छी प्रकार स्थिति क्या है? बहुत से योगी परमात्मा को प्राप्त तो होते हैं फिर भी कहीं कोई कमी उन्हें खटकती है। लेशमात्र भी कसर न रह जाय, ऐसी अवस्था कब आयेगी? सम्पूर्णता से परमात्मा की जानकारी कब आयेगी? कब होती है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

पार्थ! तू मुझमें आसक्त हुए मनवाला, बाहरी नहीं अपितु '**मदाश्रयः**'- अर्थात् मेरे परायण होकर, योग में लगा हुआ (छोड़कर नहीं) मुझको जिस प्रकार संशयरहित जानेगा, उसको सुन। जिसे जानने के पश्चात् लेशमात्र भी

संशय न रह जाय। विभूतियों की उस समग्र जानकारी पर पुनः बल देते हैं-

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा। पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस अमृततत्त्व की प्राप्ति के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है। परमतत्त्व परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। महापुरुष को एक साथ सर्वत्र कार्य करने की जो क्षमता मिलती है, वह विज्ञान है। कैसे वह प्रभु एक साथ सबके हृदय में कार्य करता है? किस प्रकार वह उठाता, बैठाता और प्रकृति के द्वन्द्व से निकालकर स्वरूप तक की दूरी तय करा लेता है? उसकी इस कार्य-प्रणाली का नाम विज्ञान है। इस विज्ञानसहित ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा, जिसे जानकर (सुनकर नहीं) संसार में और कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जायेगा। जाननेवालों की संख्या बहुत कम है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

हजारों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियों में भी कोई विरला ही पुरुष मुझे तत्त्व (साक्षात्कार) के साथ जानता है। अब समग्र तत्त्व है कहाँ? एक स्थान पर पिण्डरूप में है अथवा सर्वत्र व्याप्त है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अर्जुन! भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार - ऐसे यह आठ प्रकार के भेदोंवाली मेरी प्रकृति है। यह अष्टधा मूल प्रकृति है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

'इयम्' अर्थात् यह आठ प्रकारों वाली तो मेरी अपरा प्रकृति है अर्थात् जड़ प्रकृति है। महाबाहु अर्जुन! इससे दूसरी को जीवरूप 'परा' अर्थात्

चेतन प्रकृति जान, जिससे सम्पूर्ण जगत् धारण किया हुआ है। वह है जीवात्मा। जीवात्मा भी प्रकृति के सम्बन्ध में रहने के कारण प्रकृति ही है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

अर्जुन! ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत '**एतद्योनीनि**'- इन महाप्रकृतियों से, परा और अपरा प्रकृतियों से ही उत्पन्न होनेवाले हैं। यही दोनों एकमात्र योनि हैं। मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ अर्थात् मूल कारण हूँ। जगत् की उत्पत्ति मुझसे है और (प्रलय) विलय भी मुझमें है। जब तक प्रकृति विद्यमान है, तब तक मैं ही उसकी उत्पत्ति हूँ और जब कोई महापुरुष प्रकृति का पार पा लेता है, तब मैं ही महाप्रलय भी हूँ, जो अनुभव में आता है।

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के प्रश्न को मानव समाज ने कौतूहल से देखा है। विश्व के अनेक शास्त्रों में इसे किसी-न-किसी तरह समझाने का प्रयास चला आ रहा है। कोई कहता है कि प्रलय में संसार डूब जाता है, तो किसी के अनुसार सूर्य इतना नीचे आ जाता है कि पृथ्वी जल जाती है। कोई इसी को कयामत कहता है कि इसी दिन सबका फैसला सुनाया जाता है तो कोई नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय की गणना में व्यस्त है; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार प्रकृति अनादि है, परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु यह नष्ट कभी नहीं हुई।

भारतीय धर्मग्रन्थों के अनुसार मनु ने प्रलय देखा था। इसके साथ ग्यारह ऋषियों ने मत्स्य की सींग में नाव बाँधकर हिमालय के एक उत्तुंग शिखर की शरण ली थी। लीलाकार श्रीकृष्ण के उपदेशों एवं जीवन से सम्बन्धित उनके समकालीन शास्त्र भागवत में मृकण्डु मुनि के पुत्र मार्कण्डेय जी द्वारा प्रलय का आँखों देखा हाल प्रस्तुत है। वे हिमालय के उत्तर में पुष्पभद्रा नदी के किनारे रहते थे।

भागवत के द्वादश स्कन्ध के आठवें और नौवें अध्याय के अनुसार शौनकादि ऋषियों ने सूत जी से पूछा कि मार्कण्डेय जी ने महाप्रलय में वट

के पत्ते पर भगवान बालमुकुन्द के दर्शन किये थे; किन्तु वे तो हमारे ही वंश के थे, हमसे कुछ ही समय पूर्व हुए थे। उनके जन्म के बाद न कोई प्रलय हुआ और न सृष्टि ही डूबी। सब कुछ यथावत् है, तब उन्होंने कैसा प्रलय देखा?

सूत जी ने बताया कि मार्कण्डेय जी की प्रार्थना से प्रसन्न होकर नर-नारायण ने उन्हें दर्शन दिया। मार्कण्डेय जी ने कहा कि मैं आपकी वह माया देखना चाहता हूँ, जिससे प्रेरित होकर यह आत्मा अनन्त योनियों में भ्रमण करता है। भगवान ने स्वीकार किया। एक दिन जब मुनि अपने आश्रम में भगवान के चिन्तन में तन्मय हो रहे थे, तब उन्हें दिखाई पड़ा कि चारों ओर से समुद्र उमड़कर उनके ऊपर आ रहा है। उसमें 'मगर' छलाँगे लगा रहे थे। उनकी चपेट में ऋषि मार्कण्डेय भी आ रहे थे। वे इधर-उधर बचने के लिए भाग रहे थे। आकाश, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, स्वर्ग, ज्योतिर्मण्डल सभी उस समुद्र में डूब गये। इतने में मार्कण्डेय जी को बरगद का पेड़ और उसके पत्ते पर एक शिशु दिखाई दिया। श्वास के साथ मार्कण्डेय जी भी उस शिशु के उदर में चले गये और अपना आश्रम, सूर्यमण्डल सहित सृष्टि को जीवित पाया और पुनः श्वास के साथ उस शिशु के उदर से वे बाहर आ गये। नेत्र खुलने पर मार्कण्डेय जी ने अपने को उसी आश्रम में अपने ही आसन पर पाया।

स्पष्ट है कि करोड़ों वर्ष के भजन के पश्चात् उन मुनि ने ईश्वरीय दृश्य को अपने हृदय में देखा, अनुभव में देखा। बाहर सब कुछ ज्यों-का-त्यों था। अतः प्रलय योगी के हृदय में ईश्वर से मिलनेवाली अनुभूति है। भजन के पूर्तिकाल में योगी के हृदय में संसार का प्रवाह मिटकर अव्यक्त परमात्मा ही शेष बचता है, यही प्रलय है। बाहर प्रलय नहीं होता। महाप्रलय शरीर रहते ही अद्वैत की अनिर्वचनीय स्थिति है। यह क्रियात्मक है। केवल बुद्धि से निर्णय लेनेवाले भ्रम का ही सृजन करते हैं, चाहे हम हों या आप।

इसी पर आगे देखें-

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

धनंजय! मेरे सिवाय किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मेरे में गुँथा हुआ है। है तो; परन्तु जानेंगे कब? जब (इसी अध्याय के प्रथम श्लोक के अनुसार) अनन्य आसक्ति (भक्ति) से मेरे परायण होकर योग में उसी रूप से लग जायँ। इसके बिना नहीं। योग में लगना आवश्यक है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

कौन्तेय! जल में मैं रस हूँ। चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ। सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ। (ओ+अहं+कार) स्वयं का आकार हूँ। आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। तथा मैं-

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ। सम्पूर्ण जीवों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में उनका तप हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

पार्थ! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण अर्थात् बीज मुझे ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। इसी क्रम में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! मैं बलवानों की कामना और आसक्तिरहित बल हूँ। संसार में सब बलवान् ही तो बनते हैं। कोई दण्ड-बैठक लगाता है, तो कोई परमाणु इकट्ठा करता है; किन्तु नहीं, श्रीकृष्ण कहते हैं कि काम और राग से परे जो बल है वह मैं हूँ। वही वास्तविक बल है। सब भूतों में धर्म के अनुकूल कामना मैं हूँ। परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र धर्म है, जो सबको धारण किये हुए है। जो शाश्वत आत्मा है वही धर्म है। जो उससे अविरोध

रखनेवाली कामना है, मैं हूँ। आगे भी श्रीकृष्ण ने कहा कि, अर्जुन! मेरी प्राप्ति के लिए इच्छा कर। सब कामनायें तो वर्जित हैं; किन्तु उस परमात्मा को पाने की कामना आवश्यक है अन्यथा आप साधन कर्म में प्रवृत्त नहीं होंगे। ऐसी कामना भी मेरी ही देन है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

और भी जो सत्त्वगुण से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, जो रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं, ऐसा जान। परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे मेरे में नहीं हैं। क्योंकि न मैं उनमें खोया हुआ हूँ और न वे ही मुझमें प्रवेश कर पाते हैं; क्योंकि मुझे कर्म से स्पृहा नहीं है। मैं निर्लेप हूँ, मुझे इनमें कुछ पाना नहीं है। इसलिए मुझमें प्रवेश नहीं कर पाते। ऐसा होने पर भी-

जिस प्रकार आत्मा की उपस्थिति से ही शरीर को भूख-प्यास लगती है, आत्मा को अन्न अथवा जल से कोई प्रयोजन नहीं है, उसी प्रकार प्रकृति परमात्मा की उपस्थिति में ही अपना कार्य कर पाती है। परमात्मा उसके गुण और कार्यों से निर्लेप रहता है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन गुणों के कार्यरूप भावों से यह सारा जगत् मोहित हो रहा है इसलिए लोग इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को तत्त्व से भली प्रकार नहीं जानते। मैं इन तीनों गुणों से परे हूँ अर्थात् जब तक अंशमात्र भी गुणों का आवरण विद्यमान है, तब तक कोई मुझे नहीं जानता। उसे अभी चलना है, वह राही है और-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

यह त्रिगुणमयी मेरी अद्भुत माया दुस्तर है; किन्तु जो पुरुष मुझे ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया का पार पा जाते हैं। यह माया है तो दैवी,

परन्तु अगरबत्ती जलाकर इसकी पूजा न करने लगें। इससे पार पाना है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

जो मुझे निरन्तर भजते हैं, वे जानते हैं। फिर भी लोग नहीं भजते। माया द्वारा जिनके ज्ञान का अपहरण कर लिया गया है, जो आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए मनुष्यों में अधम, काम-क्रोधादि दुष्कृतियों को करनेवाले मूढ़ लोग मुझे नहीं भजते। तो भजता कौन है?-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! **'सुकृतिनः'**- उत्तम अर्थात् नियत कर्म (जिसके परिणाम में श्रेय की प्राप्ति हो, उसको) करनेवाले, **'अर्थार्थी'** अर्थात् सकाम, **'आर्तः'** अर्थात् दुःख से छूटने की इच्छावाले, **'जिज्ञासुः'** अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से जानने की इच्छावाले और **'ज्ञानी'** अर्थात् जो प्रवेश की स्थिति में हैं - ये चारों प्रकार के भक्तजन मुझे भजते हैं।

'अर्थ' वह वस्तु है, जिससे हमारे शरीर अथवा सम्बन्धों की पूर्ति हो। इसलिये अर्थ, कामनायें सब कुछ पहले तो भगवान द्वारा पूर्ण होती हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही पूर्ण करता हूँ; किन्तु इतना ही वास्तविक 'अर्थ' नहीं है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है, यही अर्थ है।

सांसारिक 'अर्थ' की पूर्ति करते-करते भगवान वास्तविक अर्थ आत्मिक सम्पत्ति की ओर बढ़ा देते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि इतने ही से मेरा भक्त सुखी नहीं होगा इसलिये वे आत्मिक सम्पत्ति भी उसे देने लगते हैं। **'लोक लाहु परलोक निबाहु'**- लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह ये दोनों भगवान की वस्तुएँ हैं। अपने भक्त को खाली नहीं छोड़ते।

'आर्तः'- जो दुःखी हो। **'जिज्ञासुः'**- समग्रता से जानने की इच्छावाले जिज्ञासु मुझे भजते हैं। साधना की परिपक्व अवस्था में दिग्दर्शन (प्रत्यक्ष दर्शन) की अवस्थावाले ज्ञानी भी मुझे भजते हैं। इस प्रकार चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं, जिनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है अर्थात् ज्ञानी भी भक्त ही है। इन सबमें भी-

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

अर्जुन! उनमें भी नित्य मुझमें एकीभाव में स्थित, अनन्य भक्तिवाला ज्ञानी विशिष्ट है; क्योंकि साक्षात्कार के सहित जाननेवाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी भी मुझे अत्यन्त प्रिय है। वह ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है-

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

यद्यपि ये चारों प्रकार के भक्त उदार ही हैं (कौन-सी उदारता कर दी? क्या आपके भक्ति करने से भगवान को कुछ मिल जाता है? क्या भगवान में कोई कमी है जिसे आपने पूरा कर दिया? नहीं, वस्तुतः वही उदार है जो अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाये, जो उसके उद्धार के लिये अग्रसर है। इस प्रकार यह सब उदार हैं।) परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसी मेरी मान्यता है; क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही स्थित है। अर्थात् वह मैं हूँ, वह मुझमें है। मुझमें और उसमें कोई अन्तर नहीं है। इसी पर पुनः बल देते हैं-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

अभ्यास करते-करते बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में, प्राप्तिवाले जन्म में साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी 'सब कुछ वासुदेव ही हैं' - इस प्रकार मेरे को भजता है। वह महात्मा अति दुर्लभ है। वह किसी वासुदेव की प्रतिमा नहीं गढ़वाता बल्कि अपने भीतर ही उस परमदेव का वास पाता है। उसी ज्ञानी महात्मा को श्रीकृष्ण तत्त्वदर्शी भी कहते हैं। इन्हीं महापुरुषों से बाहर समाज में कल्याण सम्भव है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष तत्त्वदर्शी महापुरुष श्रीकृष्ण के शब्दों में अतिदुर्लभ हैं।

जब श्रेय और प्रेय (मुक्ति और भोग) दोनों ही भगवान से मिलते हैं, तब तो सभी को एकमात्र भगवान का भजन करना चाहिए, फिर भी लोग

उन्हें नहीं भजते। क्यों? श्रीकृष्ण के ही शब्दों में-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

''वह तत्त्वदर्शी महात्मा अथवा परमात्मा ही सब कुछ है।'' - लोग ऐसा समझ नहीं पाते; क्योंकि भोगों की कामनाओं द्वारा लोगों का विवेक अपहरण कर लिया गया है इसलिए वे अपनी प्रकृति अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों से अर्जित संस्कारों के स्वभाव से प्रेरित होकर मुझ परमात्मा से भिन्न अन्य देवताओं और उनके लिए प्रचलित नियमों की शरण लेते हैं। यहाँ 'अन्य देवता' का प्रसंग पहली बार आया है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, मैं उसी देवता के प्रति उसकी श्रद्धा को स्थिर करता हूँ। मैं स्थिर करता हूँ; क्योंकि देवता नाम की कोई वस्तु होती तब तो वह देवता ही श्रद्धा को स्थिर करता।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देव-विग्रह के पूजन में तत्पर होता है और देवता के माध्यम से मेरे ही द्वारा निर्मित उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त होता है। भोग कौन देता है? मैं ही देता हूँ। उसकी श्रद्धा का परिणाम है भोग, न कि किसी देवता की देन। किन्तु वह फल तो पा ही लेता है फिर इसमें बुराई क्या है? इस पर कहते हैं-

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

परन्तु उन अल्पबुद्धि वालों का वह फल नाशवान् है। आज फल है तो भोगते-भोगते नष्ट हो जायेगा इसलिए नाशवान् है। देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं अर्थात् देवता भी नाशवान् हैं। देवताओं से लेकर

यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील और मरणधर्मा है। मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है, जो अव्यक्त है 'नैष्ठिकीं परमशान्ति' पाता है।

अध्याय तीन में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुमलोग देवताओं अर्थात् दैवी सम्पद् की उन्नति करो। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् की उन्नति होगी, वही तुम्हारी उन्नति है। क्रमशः उन्नति करते-करते परमश्रेय को प्राप्त कर लो। यहाँ देवता उस दैवी सम्पद् का समूह है, जिससे परमदेव परमात्मा का देवत्व अर्जित किया जाता है। दैवी सम्पद् मोक्ष के लिए है, जिसके छब्बीस लक्षणों का निरूपण गीता के सोलहवें अध्याय में किया गया है।

'देवता' हृदय के अन्तराल में परमदेव परमात्मा के देवत्व को अर्जित करानेवाले सद्गुणों का नाम है। थी तो यह अंदर की वस्तु; किन्तु कालान्तर में लोगों ने भीतर की वस्तु को बाहर देखना प्रारंभ कर दिया। मूर्तियाँ गढ़ लीं, कर्मकाण्ड रच डाले और वास्तविकता से दूर खड़े हो गये। श्रीकृष्ण ने इस भ्रान्ति का निराकरण उपर्युक्त चार श्लोकों में किया। गीता में पहली बार 'अन्य देवताओं' का नाम लेते हुए उन्होंने कहा कि देवता होते ही नहीं। लोगों की श्रद्धा जहाँ झुकती है, वहाँ मैं ही खड़ा होकर उनकी श्रद्धा को पुष्ट करता हूँ और मैं ही वहाँ फल भी देता हूँ। वह फल भी नश्वर है। फल नष्ट हो जाते हैं, देवता नष्ट हो जाते हैं और देवताओं को पूजनेवाला भी नष्ट हो जाता है। जिनका विवेक नष्ट हो गया है, वे मूढ़बुद्धि ही अन्य देवताओं को पूजते हैं। श्रीकृष्ण तो यहाँ तक कहते हैं कि अन्य देवताओं को पूजने का विधान ही अयुक्तिसंगत है (आगे देखेंगे, अध्याय ९/२३)।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

यद्यपि जब देवताओं के नाम पर, देवता नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, जो फल मिलता है वह भी नाशवान् है, फिर भी सब लोग मेरा भजन नहीं करते; क्योंकि बुद्धिहीन पुरुष (जैसा पिछले श्लोक में आया कि कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है वे) मेरे सर्वोत्तम, अविनाशी और

परमप्रभाव को भली प्रकार नहीं जानते, इसलिये वे मुझ अव्यक्त पुरुष को व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मानते हैं, मनुष्य मानते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण भी मनुष्य शरीरधारी योगी थे, योगेश्वर थे। जो स्वयं योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की जिनमें क्षमता हो, उन्हें योगेश्वर कहते हैं। साधना के सही दौर में पड़कर क्रमशः उत्थान होते-होते महापुरुष भी उसी परमभाव में स्थित हो जाते हैं। शरीरधारी होते हुए भी वे उसी अव्यक्त स्वरूप में स्थित हो जाते हैं; फिर भी कामनाओं से विवश मन्दबुद्धि के लोग उन्हें साधारण व्यक्ति ही मानते हैं। वे सोचते हैं कि हमारी ही तरह तो यह भी पैदा हुए हैं, भगवान कैसे हो सकते हैं? उन बेचारों का दोष भी क्या है? दृष्टिपात करते हैं तो शरीर ही दिखाई पड़ता है। वे महापुरुष के वास्तविक स्वरूप को देख क्यों नहीं पाते? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण से ही सुनें-

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

सामान्य मनुष्य के लिए माया एक परदा है, जिसके द्वारा परमात्मा सर्वथा छिपा है। योग-साधना समझकर वह इसमें प्रवृत्त होता है। इसके पश्चात् योगमाया अर्थात् योगक्रिया भी एक आवरण ही है। योग का अनुष्ठान करते-करते उसकी पराकाष्ठा योगारूढ़ता आ जाने पर वह छिपा हुआ परमात्मा विदित होता है। योगेश्वर कहते हैं कि मैं अपनी योगमाया से ढँका हुआ हूँ। केवल योग की परिपक्व अवस्था वाले ही मुझे यथार्थ देख सकते हैं। मैं सबके लिये प्रत्यक्ष नहीं हूँ इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित (जिसे अब जन्म नहीं लेना है), अविनाशी (जिसका नाश नहीं होना है), अव्यक्त स्वरूप (जिसे पुनः व्यक्त नहीं होना है) को नहीं जानता। अर्जुन भी श्रीकृष्ण को अपनी ही तरह मनुष्य मानता था। आगे उन्होंने दृष्टि दिया तो अर्जुन गिड़गिड़ाने लगा, प्रार्थना करने लगा। वस्तुतः अव्यक्तस्थित महापुरुष को पहचानने में हमलोग प्रायः अन्धे ही हैं। आगे कहते हैं-

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अर्जुन! मैं अतीत, वर्तमान और भविष्य में होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियों को जानता हूँ; परन्तु मुझे कोई नहीं जानता। क्यों नहीं जान पाता?-

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

भरतवंशी अर्जुन! इच्छा और द्वेष अर्थात् राग-द्वेषादि द्वन्द्व के मोह से संसार के सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त मोह को प्राप्त हो रहे हैं इसलिए मुझे नहीं जान पाते। तो क्या कोई जानेगा ही नहीं? योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

येषां त्वन्तगत पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

परन्तु पुण्य कर्म (जो संसृति का अन्त करनेवाला है, जिसका नाम कार्यम् कर्म, नियत कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया कहकर बारम्बार समझाया है, उस कर्म को) करनेवाले जिन भक्तों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादि द्वन्द्व के मोह से भली प्रकार मुक्त होकर, व्रत में दृढ़ रहकर मुझे भजते हैं। किसलिए भजते हैं?-

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

जो मेरी शरण होकर जरा और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं। और इसी क्रम में-

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, मुझमें समाहित चित्तवाले वे पुरुष अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं, मुझमें ही स्थित रहते हैं और सदैव मुझे प्राप्त रहते हैं। छब्बीसवें-सत्ताइसवें श्लोक में उन्होंने कहा कि मुझे कोई नहीं जानता; क्योंकि वे मोहग्रस्त हैं। किन्तु जो उस मोह से छूटने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे (१) सम्पूर्ण ब्रह्म, (२) सम्पूर्ण अध्यात्म, (३) सम्पूर्ण कर्म, (४) सम्पूर्ण अधिभूत,

(५) सम्पूर्ण अधिदैव और (६) सम्पूर्ण अधियज्ञसहित मुझको जानते हैं अर्थात् इन सबका परिणाम मैं (सद्गुरु) हूँ। वही मुझे जानता है, ऐसा नहीं कि कोई नहीं जानता।

निष्कर्ष–

इस सातवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अनन्य भाव से मुझमें समर्पित होकर, मेरे आश्रित होकर जो योग में लगता है वह समग्ररूप से मुझे जानता है। मुझे जानने के लिए हजारों में कोई विरला ही प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालों में विरला ही कोई जानता है। वह मुझे पिण्डरूप में एकदेशीय नहीं वरन् सर्वत्र व्याप्त देखता है। आठ भेदोंवाली मेरी जड़ प्रकृति है और इसके अन्तराल में जीवरूप मेरी चेतन प्रकृति है। इन्हीं दोनों के संयोग से पूरा जगत् खड़ा है। तेज और बल मेरे ही द्वारा हैं। राग और काम से रहित बल तथा धर्मानुकूल कामना भी मैं ही हूँ। जैसा कि सब कामनाएँ तो वर्जित हैं, लेकिन मेरी प्राप्ति के लिए कामना कर। ऐसी इच्छा का अभ्युदय होना मेरा ही प्रसाद है। केवल परमात्मा को पाने की कामना ही 'धर्मानुकूल कामना' है।

श्रीकृष्ण ने बताया कि मैं तीनों गुणों से अतीत हूँ। परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु भोगासक्त मूढ़ पुरुष सीधे मुझे न भजकर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, जबकि वहाँ देवता नाम का कोई है ही नहीं। पत्थर, पानी, पेड़ जिसको भी वे पूजना चाहते हैं, उसी में उनकी श्रद्धा को मैं ही पुष्ट करता हूँ। उसकी आड़ में खड़ा होकर मैं ही फल देता हूँ; क्योंकि न वहाँ कोई देवता है, न किसी देवता के पास कोई भोग ही है। लोग मुझे साधारण व्यक्ति समझकर नहीं भजते; क्योंकि मैं योग-प्रक्रिया द्वारा ढँका हुआ हूँ। अनुष्ठान करते-करते योगमाया का आवरण पार करनेवाले ही मुझ शरीरधारी को भी अव्यक्त रूप में जानते हैं, अन्य स्थितियों में नहीं।

मेरे भक्त चार प्रकार के हैं - अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। चिन्तन करते-करते अनेक जन्मों के अन्तिम जन्म में प्राप्तिवाला ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है अर्थात् अनेक जन्मों से चिंतन करके उस भगवत्स्वरूप को

प्राप्त किया जाता है। राग-द्वेष के मोह से आक्रान्त मनुष्य मुझे कदापि नहीं जान सकते; किन्तु राग-द्वेष के मोह से रहित होकर जो नियतकर्म (जिसे संक्षेप में आराधना कह सकते हैं) का चिन्तन करते हुए जरा-मरण से छूटने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण रूप से मुझे जान लेते हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण अधिदैव को, सम्पूर्ण कर्म को और सम्पूर्ण यज्ञ के सहित मुझे जानते हैं। वे मुझमें प्रवेश करते हैं और अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् फिर कभी वे विस्मृत नहीं होते।

इस अध्याय में परमात्मा की समग्र जानकारी का विवेचन है, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'समग्रबोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

इस प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'समग्र जानकारी' नामक सातवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायाः "यथार्थगीता" भाष्ये 'समग्रबोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।